

उद्

भाषा की उत्पत्ति
और प्रारम्भिक विकास

एहतिशाम हुसैन

पुस्तिका सीरीज़-82

प्रकाशक :

isd इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस, 62-ए,

लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067

टेलीफोन : 091-26177904, टेलीफैक्स : 091-26177904

ई-मेल : notowar.isd@gmail.com

वेबसाइट : www.isd.net.in

प्रकाशन वर्ष : 2018

केवल सीमित वितरण के लिए

इतिहास, साहित्यिक इतिहास और भाषा विज्ञान के द्वारा अब ये तथ्य पूरी तरह स्थापित हो चुका है कि उर्दू एक इंडो-आर्यन भाषा है, जिसकी उत्पत्ति और विकास भारत में हुआ। फिर भी ताजमहल को विदेशी गुलामी की निशानी समझने वाली सोच उर्दू के बारे में भी ऐसी ही राय रखती है। एहतिशाम हुसैन की हिंदी पुस्तक 'उर्दू साहित्य का इतिहास' का पहला अध्याय जिसका चयन हमने इस पुस्तिका के लिए किया है, न केवल बहुत सी गलतफहमियों को दूर करने में सहायक सिद्ध होगा बल्कि इससे ये बात भी भली-भांति स्पष्ट हो जाएगी कि उर्दू भी ताजमहल की तरह हमारी साझी विरासत का एक अटूट हिस्सा है।

उर्दू साहित्य का इतिहास उर्दू भाषा के इतिहास से आरम्भ होता है। हर भाषा के समान उर्दू भी सामाजिक आवश्यकताओं के नतीजे में पैदा हुई, जिसमें धीरे-धीरे सांस्कृतिक विचारों और साहित्यिक कृतियों के लिए जगह बनती गई। उर्दू को इतिहास ने जन्म दिया। उसके विकास के लिए वातावरण निर्मित किया और उससे एक ऐसे स्तर पर पहुँचा दिया कि 18वीं और 19वीं शताब्दी में अनेक विदेशी और देशी विद्वानों ने 'हिंदुस्तानी' की शकल में इसे देश की जन साधारण की भाषा की पदवी प्रदान की। इस कहानी को समझने और इसकी कड़ियों को जोड़ने के लिए हजारों वर्ष पीछे जाना ज़रूरी है। यद्यपि भाषाओं में जो तब्दीली होती है वो साहित्य की तुलना में साधारणतः कामकाजी ही होती है। मगर ये तब्दीली भी सामाजिक चेतना और दूसरी भाषाओं के साथ मेलजोल से पैदा होती है। साहित्य जिन प्रभावों को सुगमता से अपना लेता है, भाषा उन्हें देर से अपने दामन में जगह देती है। उर्दू भाषा और साहित्य का इतिहास पढ़ते हुए ये सब बातें सामने आएंगी और इतिहास की सहायता से समझी जाएंगी और इसी से यह तथ्य भी स्पष्ट होगा कि न तो उर्दू भाषा भारत के बाहर पैदा हो सकती थी और न उसका साहित्य।

भाषा विज्ञान के कई जानकारों ने भारतवर्ष को भाषाओं का 'अजायबघर' कहा है। ग्रियरसन (Gierson) के अनुमान के अनुसार यहाँ 176 भाषाएँ और 544 बोलियाँ पाई जाती हैं। इस संख्या में बहुत-सी वे भाषाएँ भी सम्मिलित हैं जिनके बोलने वाले या तो किसी छोटे से क्षेत्र में सीमित हैं या इतने कम हैं कि वे भारतवर्ष के भाषा-इतिहास में कोई महत्व नहीं रखते। इसी प्रकार अधिकतर बोलियाँ ऐसी हैं जो अन्य भाषाओं के

अधीन हैं, इसीलिये जब किसी ऐसी भाषा का इतिहास लिखने का आयोजन किया जाए जिसने देश की सांस्कृतिक उन्नति में प्रभावशाली भाग लिया है, उस समय यहाँ की उन सभी बड़ी-बड़ी भाषाओं और बोलियों को दृष्टि में रखना होगा, जिनसे उसका सम्पर्क हुआ।

उर्दू भाषा और साहित्य का इतिहास लिखते हुए उत्तरी भारत की भाषाओं की उन्नति और विकास को भी सामने रखना इसलिये आवश्यक है कि जिन सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक परिस्थितियों ने उर्दू भाषा के उद्भव और उसके साहित्य के विकास को प्रभावित किया वे ही साधारणतः दूसरी भाषाओं के बनने और विकसित होने में सहायक रहीं। उर्दू भाषा का इतिहास एक प्रकार से भारतवर्ष के 1,000 वर्षों का इतिहास है। उसी समय में भारत की अन्य आधुनिक भाषाओं का विकास भी हुआ। इस 1,000 वर्षों में भारतीय समाज उन्नति और अवनति के जिन युगों से गुजरा उसका प्रभाव यहाँ कि प्रत्येक भाषा और साहित्य पर पड़ा, किसी पर कम और किसी पर अधिक। ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों ने किसी बोली या भाषा को आगे बढ़ा दिया और किसी की बाढ़ रोक दी। चुनाँचे 10वीं सदी के बाद से कुछ ऐतिहासिक सामग्रियाँ ऐसी एकत्र हो गई कि भारतीय आर्य भाषाओं के समूह में एक नई भाषा ने जन्म लिया, जिसको आज उर्दू कहा जाता है। अब यह देखना चाहिए कि इसका उद्घाटन और विकास किस प्रकार हुआ, उसे एक नई भाषा किस दृष्टिकोण से कह सकते हैं और भारतवर्ष की संस्कृति में उसका क्या स्थान है। विस्तार में न जाकर उसकी उत्पत्ति का संक्षिप्त विवरण उसकी साहित्यिक परम्पराओं के समझने में बहुत सहायक होगा।

भारतवर्ष का इतिहास देखा जाय तो यह बात स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है कि यहाँ की भाषाओं में उसी समय कोई बड़ा परिवर्तन हुआ है जब देश के धार्मिक या राजनीतिक जीवन में कोई बड़ा आन्दोलन हुआ है। आर्य भाषाओं के प्रवेश से पहले यहाँ द्राविड़ भाषा और संस्कृति की बड़ी उन्नति हुई जिसमें आस्ट्रिक (Austriac) और दूसरी जातियों की बोलियों और सभ्यताओं की लहरें भी देखी जा सकती हैं। कदाचित यह कहना

ठीक होगा कि द्राविड़ संस्कृति ने पहिले की संस्कृतियों को अपने अन्दर समेट लिया था। जो कुछ उसके बाहर था वह बहुत महत्व नहीं रखता था। आर्यों के आने के बाद उत्तरी भारत और मध्यदेश में आर्य बोलियों ने पहले की भाषाओं की जगह ले ली। यह एक क्रान्तिजनक घटना थी कि उत्तरी भारत से वह भाषा लुप्त हो गई जो मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की सभ्यता की जन्मदाता थी। इसका सब से बड़ा कारण यह प्रतीत होता है कि अपने धार्मिक और सांस्कृतिक भेदभावों के कारण आर्य जाति के लोग द्राविड़ों में पूरी तरह मिल न सके। द्राविड़ों ने बाद में आर्य संस्कृति से बहुत कुछ लिया किन्तु आरम्भ में पूर्णतः अलगाव रहा। इसका यह अर्थ नहीं कि द्राविड़ भाषा और संस्कृति ने आर्यभाषा और संस्कृति को प्रभावित नहीं किया, चर्चा केवल मात्रा की है। इस मनोरंजक विषय के वर्णन का यह अवसर नहीं है।

तो भारतवर्ष के भाषा सम्बन्धी इतिहास में यह पहला महत्वपूर्ण परिवर्तन था जब आर्य यहाँ आए। इनके आने के पश्चात वैदिक संस्कृति ने महत्ता प्राप्त कर ली। इसमें संदेह नहीं कि भारतवर्ष में आर्य जाति ने हिन्दुस्तानी समाज को वर्षों में इस प्रकार विभाजित कर दिया कि उच्च जाति की बोली और निम्न लोगों की बोलियों में बड़ा अन्तर पैदा हो गया। संस्कृत के प्राचीन नाटकों में ब्राह्मण, राजा और उसके मंत्री संस्कृत बोलते हैं तो निम्न वर्ग के लोग, जिनमें स्त्रियाँ भी सम्मिलित हैं, प्राकृत बोलते दिखाए गए हैं। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि संस्कृत के साथ-साथ प्राकृत भी मौजूद थीं। ब्राह्मण सभ्यता धार्मिक बन्धनों में फंसकर जितना अपने को ऊपर उठाती चली गई और अपनी भाषा को पवित्र बनाने के विचार से व्याकरण और शुद्ध उच्चारण के बन्धनों में कसती चली गई उतना ही निम्न वर्ग के लोग उससे दूर होते चले गए। कहने को तो संस्कृत आज भी भारतवर्ष की महत्वपूर्ण सांस्कृतिक भाषा है किन्तु इस पर सबसे बड़ी चोट उस समय लगी जब बौद्ध और जैन धर्म ने जन्म लिया और दूसरी बार हिन्दुस्तानी भाषा के इतिहास में वह महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ, जिसको भारतीय आर्य भाषाओं का द्वितीय युग कहा जाता है और जिसमें संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृत को बढ़ने और फैलने का अवसर मिला।

बौद्ध और जैन धर्म आर्य धर्म के ढाँचे के अन्दर ही एक ऐसे नए मोर्चे का विकास था जो ब्राह्मणों के अधिकारों के विरुद्ध स्थापित किया गया था क्योंकि उन्होंने धर्म को केवल विशेष संस्कारों का संग्रह बना रखा था। धार्मिक क्षेत्र में बौद्ध मत एक महत्वपूर्ण परिवर्तन था पर भारतीय संस्कृति के सामूहिक विकास में इसको आर्य संस्कृति के विरोध में कोई नई धारा नहीं कहा जा सकता। इसमें भी संदेह नहीं कि निम्न वर्ग जातियों को बौद्ध धर्म से बड़ी प्रेरणा मिली परन्तु वर्गों का वह आधार जो ब्राह्मण प्रतिष्ठा पर अवलम्बित था एक दम से नहीं टूटा। इस सम्बन्ध में हमें और बातों को छोड़ कर भाषा की दृष्टि से उस महान आन्दोलन का अनुमान लगाना है जो इस धार्मिक परिवर्तन के बहाव में पैदा हुआ था। बुद्ध ने जब अपने धर्म का प्रचार आरम्भ किया और बहुत से लोग उसमें जीवन के नए उद्देश्य देख कर सम्मिलित होने लगे तो उनके कई बड़े-बड़े शिष्यों ने, जो वैदिक धर्म और संस्कृत भाषा से भली भाँति परिचित थे, गौतम बुद्ध से कहा कि वह इस समय तक अपनी शिक्षा को स्थानीय बोलियों में प्रस्तुत करते रहे हैं, अब समय आ गया है कि उन्हें देश की पवित्र और सभ्य भाषा अर्थात् संस्कृत में संगृहीत कर लिया जाए, परन्तु बुद्ध ने इसे स्वीकार नहीं किया। इस सम्बन्ध में डाक्टर सुनीति कुमार चटर्जी ने जो शब्द लिखे हैं वह याद रखने योग्य हैं :

"But Buddha refused and gave his great character to all the languages of man. He recommended that man should study his words, 'Each in his own language'. This gave great impetus to the literary employment of the spoken languages and it was indeed a movement of revolutionary character for the freedom of spirit, the full implication of which was not wholly grasped nor taken advantage of at the time."

(—Indo-Alva) and Hindi
by Dr. S. K. Chatterji-1942)

इस प्रकार प्राकृतों को फलने-फूलने का अवसर मिला। भारतवर्ष में भाषा सम्बन्धी यह दूसरा महान परिवर्तन था जो 680 ई.पू. आरम्भ हुआ। इस युग में पाली, मागधी, अर्धमागधी, शौरसेनी और अन्य भाषाएँ भारत के विभिन्न भागों में अपनी जड़े फैलाने लगीं। अभी यह दूसरा युग समाप्त भी नहीं हुआ था कि आर्य भाषाओं में फिर कुछ परिवर्तन होने लगे और प्राकृत में संस्कृत तत्सम कम होकर उनकी जगह तद्भव शब्दों का विकास हुआ। भाषा विज्ञान के जानकार इसको अपभ्रंशों का युग कहते हैं। अपभ्रंशों को परिवर्तन काल की बिगड़ी हुई भाषा भी कह सकते हैं। इनका उद्भव 8वीं शताब्दी ईसवी ही में हो गया था। कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि जब कभी भारत की धार्मिक सभ्यता में उथल-पुथल हुआ और केन्द्रीय शक्ति टूट कर छोटे-छोटे राज्यों में बंटी तब भाषा पर भी उसका प्रभाव पड़ा। उस समय तक बौद्ध मत का जोर भी घट चुका था और ब्राह्मण फिर अपने दार्शनिक तर्कों को संभाल कर आगे बढ़ रहे थे। भाषा वैज्ञानिकों ने अपभ्रंश को भारतीय आर्य भाषाओं के द्वितीय और तृतीय या आधुनिक युग को मिलाने वाली कड़ी कहा है। अपभ्रंशों का सिलसिला वैसे तो चौदहवीं शताब्दी तक चलता रहा परन्तु 1,000 ई. के लगभग भारत की आधुनिक भाषाओं का विकास प्रारम्भ हुआ और उर्दू भाषा और साहित्य का इतिहास लिखते हुए हमको इसी युग को सम्मुख रखना है।

भाषा विज्ञान के विद्वानों का विचार है कि भारत की वर्तमान आर्य भाषाओं का डोल अपभ्रंशों के अन्दर ही पड़ा और इस दफा भी यह परिवर्तन एक महान ऐतिहासिक और सामाजिक क्रम का परिणाम था। दो बड़े-बड़े भाषा सम्बन्धी परिवर्तनों की भांति 1,080 ई. के निकट यह नया आन्दोलन उस समय हुआ जब हिन्दुस्तान में मुसलमान बड़ी संख्या में आये। वैसे तो अरब और मुसलमान यहाँ बहुत पहले से आ जा रहे थे परन्तु दसवीं शताब्दी के अंत से उनका आना ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्व रखता है। इस बात को न भूलना चाहिए कि यदि मुसलमान यहाँ न आते तो भी भाषाओं में परिवर्तन अवश्य होता परन्तु उसका रूप कुछ और होता। मुसलमानों के आने से भाषा परिवर्तन का प्रवाह बढ़ गया और वे जो बोलियाँ बोलते हुए भारत में

आए थे उन बोलियों ने भी स्वाभाविक रूप से यहाँ की बोलियों पर प्रभाव डाला। इस परिस्थिति को भली भाँति समझने के लिए भारत के सामाजिक जीवन को अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक है।

जब दो राष्ट्र अथवा दो जातियों के लोग एक दूसरे से इस प्रकार घुलमिल जाते हैं जैसे बाहर से आने वाले मुसलमान और हिन्दुस्तान के वासी, तो उनका प्रभाव एक दूसरे पर इतने असंख्य रूपों में पड़ता है जिनको अलग-अलग व्यक्त करना या उन्हें पूर्णतः समझना बहुत कठिन हो जाता है। राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक भावों को अलग-अलग और मिला-जुला कर देखना बहुत सी उलझी हुई समस्याओं पर प्रकाश डालेगा। भाषा को मनुष्यों के सामाजिक व्यवहारों ने ही जन्म दिया है और उसी व्यवहार के बदल देने से उसमें परिवर्तन होता रहता है। मुसलमानों के आने से भारत का वह सामाजिक जीवन एक नई राह पर चल पड़ा जिसमें बहुत दिनों से कोई महान घटना नहीं हुई थी। इसलिए भाषा सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के विश्लेषण में बड़ी सहायता करती है और साथ ही साथ अपने विकास का मर्म भी खोलती जाती है। भाषा न तो निर्जन स्थान में पैदा होती है और न उन्नति कर सकती है। मुसलमानों के आने के पूर्व जो भाषाएँ भारतवर्ष में प्रचलित थीं उनमें से कई भाषाओं में मुसलमानों के आने के कारण वैसा ही परिवर्तन हुआ जैसा संगीत, चित्रकला और भक्ति आदि में हुआ था। यदि ऐसा न होता तो भाषाओं और भौतिक घटनाओं के पारस्परिक प्रभाव के विचार बिल्कुल गलत हो जाते।

पाँचवीं से सातवीं शताब्दी तक अरब व्यापारी दक्षिणी भारत में मलाबार के तट पर आते रहे परन्तु उनकी अरबी भाषा का प्रभाव वहाँ की भाषाओं पर अधिक नहीं पड़ा। इसी प्रकार अरब के मुसलमान आठवीं शताब्दी के आरम्भ में सिन्ध में आए किन्तु उन्होंने भी भारतवर्ष के भाषा सम्बन्धी जीवन पर कोई गहरा चिह्न नहीं छोड़ा। परन्तु इसके पश्चात जो मुसलमान ईरान की ओर से दसवीं शताब्दी के अन्त से यहाँ आने लगे उनका आना ऐतिहासिक दृष्टिकोण से बड़ा महत्व रखता है। जो मुसलमान दो सौ वर्षों से ईरान में रहते थे उनमें कई सांस्कृतिक धाराएँ मिलती हैं।

उनका धर्म तो अवश्य सामी (Semetic) था पर उनकी सभ्यता में जोरो-आष्ट्रीयन (Zoroastrian) बौद्ध और मसीही धर्मों के तत्व भी देख पड़ते हैं। उनमें से अधिकतर की बोलचाल की भाषा फारसी थी जो स्वयं एक बड़ी प्रभावशाली आर्य भाषा है। जब हम भारत की, और विशेष कर पंजाब और मध्यभारत की भाषाओं के विकास का वृत्तान्त पढ़े तो ऊपर लिखी हुई बातों को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए। नई हिन्दुस्तानी भाषाएँ जिस युग में विकसित हुईं, सभ्यताओं के मेल-जोल का भी वही समय था। जब कोई व्यक्ति भाषाओं का सामाजिक रूप से पाठ करना चाहे तो उसे हिन्दुस्तानी समाज के परिवर्तनों और ऐतिहासिक घटनाओं को देखना ही पड़ेगा।

हर्षवर्धन के बाद से भारत छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया और ऐसी स्थिति पैदा हो गई जब कि किसी प्रकार की राजनैतिक एकता का विचार भी नहीं किया जा सकता था कि उसी समय अर्थात् 1,000 ई. के लगभग मुसलमानों ने पंजाब के बड़े भाग को अपने अधीन कर लिया। जब तक मुहम्मद गोरी ने अपनी स्वाधीनता स्थापित नहीं कर ली उस समय तक वहाँ गजनवी वंश राज करता रहा। मुहम्मद गोरी के समय में राज्य की सीमा पंजाब से बढ़कर मध्य भारत तक पहुँच गई और मुहम्मद गोरी की मृत्यु के पश्चात् सन् 1206 ई. में गुलाम घराने ने अपना राज्य स्थापित कर लिया। इस समय मध्य एशिया में चंगेज खाँ ने ऐसी हलचल मचा रखी थी कि बहुत से ईरानी हिन्दुस्तान में भाग आए। फिर खिलजियों का राज्य स्थापित हुआ जिसकी सीमा थोड़े ही समय में पूर्व में बंगाल तक और दक्षिण में कन्याकुमारी तक फैल गई। मलिक काफूर के विजयी आक्रमणों ने उत्तरी और दक्षिणी भारत को एक कर दिया और बाह्य रूप से सारा देश एक केन्द्र के अधीन संगठित हो गया। तुगलकों के समय में एक याद रखने योग्य घटना यह हुई कि मुहम्मद तुगलक ने अपनी राजधानी दिल्ली से हटाकर दक्षिणी भारत में देवगिरि कर दी और सारे दिल्ली निवासियों को आदेश दिया कि एक-एक करके वहाँ जाएँ और जब यह आदेश उचित मालूम न हुआ तो साल भर के बाद ही दिल्ली वापस लौटने का हुक्म दे दिया। बहुत से लोग पलट न

सके और वहीं रह गए। उर्दू के उद्भव और उसके प्रारम्भिक विकास में यह घटना बहुत अहमियत रखती है। दिल्ली को केन्द्र बनाकर कई वंश के नरेशों ने भारतवर्ष पर राज्य किया। सैनिक और प्रबन्धकर्ता इधर-उधर आते-जाते रहे, यहाँ तक कि सोलहवीं शताब्दी में मुगल आए, एक दफा फिर सबल शासन प्रबन्ध स्थापित हुआ और हिन्दुस्तान के वे भाग जो पिछले राज्यों को निर्बल पाकर स्वाधीन हो गए थे, फिर मुगल राज्य के अधीन आ गए। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के काल में जीवन के प्रत्येक विभाग में असाधारण उन्नति हुई और जब मुगल राज्य का पतन होने लगा तो मराठों, सिक्खों और सब से बढ़कर ईस्ट इन्डिया कम्पनी का उत्थान हुआ।

इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में उर्दू भाषा और साहित्य का जन्म भलीभाँति हमारी समझ में आ सकेगा। पंजाब में ग़ज़नवी सम्राटों के पौने दो सौ वर्ष के शासन काल में अच्छा खासा सांस्कृतिक लेन देन हुआ। महमूद ग़ज़नवी में चाहे जो त्रुटियाँ रही हों पर वह बड़ा विद्या प्रेमी था और संस्कृत भाषा की महत्ता को स्वीकार करता था। भारत से अपना सम्बन्ध प्रकट करने के लिए उसने अपनी मुद्रा पर संस्कृत शब्दों को भी जगह दी थी। बेरूनी¹, जो उस समय का सबसे प्रसिद्ध विद्वान था और जिसे भारत के धर्म, गणित और सामाजिक समस्याओं से बड़ा प्रेम था, इस मेल-जोल की सबसे बड़ी यादगार है। उसने भी लिखा है कि उस समय संस्कृत की बहुत सी पुस्तकों के अनुवाद अरबी और फारसी में हुए। इस युग के बड़े-बड़े फारसी कवियों की रचनाओं में भी एक-आध शब्द हिन्दुस्तान की भाषाओं के मिलते हैं। इतिहासकारों ने ख्वाजा मसऊद साद सलमान को हिन्दी का पहला कवि माना है जिसने अपनी हिन्दी कविताओं को पूरा संग्रह तैयार कर लिया था और 1066 ई. के लगभग वह फारसी अरबी में कविताएँ लिखता था। वो लाहौर का रहने वाला था। उसके हिन्दी-संग्रह की चर्चा अमीर खुसरो और मुहम्मद औफी ने की है, पर अब वह नहीं मिलता

(1.) अबू रेहान बेरूनी (970-1038 ई.) बड़ा विद्वान था। भारत पर उसकी 'किताबुल-हिन्द' प्रसिद्ध है।

है। इसका अर्थ यह है कि हिंदू और मुसलमानों का मेल-जोल व्यर्थ नहीं जा रहा था बल्कि जीवन के हर क्षेत्र में दिव्य रूप से प्रकट हो रहा था। यहाँ तक की राजपूत राजसभाओं के कवि नरपति नाल्ह और चन्द बरदाई ने भी फारसी और अरबी शब्दों का प्रयोग किया है। फिर जब दिल्ली मुसलमानों की राजधानी बनी तो मेल-जोल की यह आवश्यकता और बढ़ गई और भाषा सम्बन्धी घनिष्ठता का केन्द्र पंजाब से दिल्ली आ गया जहाँ की भाषाओं में मिलावट आरम्भ हुई।

इस अवसर पर भाषा से दिलचस्पी लेने वालों को यह बात नहीं भूलना चाहिए कि जब कोई देश या राष्ट्र किसी दूसरे देश या राष्ट्र पर विजय पाता है तो विजय पाने वाला अपनी भाषा को विजित राष्ट्र के लोगों पर नहीं लादता बल्कि अपनी भाषा के कुछ जरूरी और काम देने वाले शब्द उस देश की भाषा में मिलाकर स्वयं वही भाषा बोलने और उसी को अपनाने लगता है। जो मुसलमान यहाँ आए वे तुर्की, अरबी, फारसी और दूसरी मध्य एशियाई भाषाएँ बोलते थे किन्तु उनके साहित्यिक और सांस्कृतिक व्यवहार का माध्यम फारसी थी। जब ये लोग यहाँ आए तो उनको अधिकतर आर्यभाषाओं से ही काम पड़ा, जिनका रूप बदला हुआ था पर मूल एक ही था। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि हिन्दुओं और मुसलमानों के धार्मिक विचार अलग थे परन्तु राजसिंहासन पर बैठकर हिन्दुस्तान के मुसलमान बादशाह, मुसलमान बनने से अधिक बादशाह बनने की भावना रखते थे और अपने राज्य की स्थापना और पुष्टता के लिए केवल हिन्दुओं से ही नहीं, मुसलमानों से भी लड़ते थे। जिस किसी ने भारतवर्ष का इतिहास पढ़ा है वह इसे भली-भाँति जानता है कि गजनिवियों के समय से लेकर मुगलों के अन्तिम दिनों तक यही होता रहा। मुसलमान नरेश दुनिया के और नरेशों की तरह आन-बान से राज करने को अपना प्रथम कर्तव्य समझते थे। धर्म फैलाना उनका लक्ष्य नहीं था। वे जिस साम्राज्यवादी श्रेणी और राजसी परम्परा से सम्बन्ध रखते थे उसमें किसी रुकावट के बिना राज्य करना उनका लक्ष्य था। धार्मिक बाधाओं को तोड़ने में उन्हें बस उतना ही समय लगता था जितना सामाजिक या दूसरी बाधाओं के तोड़ने में। यह मुसलमान बादशाह यहीं के हो गए थे। यहीं की मिट्टी से

जन्म लेकर और यहीं की धरती में सोकर वे यहाँ के लोगों में घुल-मिल जाना चाहते थे। उन्होंने यहाँ की बहुत सी रस्मों और रीतों को अपना लिया था और भारतीय जीवन में आनन्द प्राप्त करने लगे थे। उन्होंने जो कुछ यहाँ से लिया और यहाँ की संस्कृति को जो कुछ दिया, उसके विवरण का यहाँ अवसर नहीं है।

जब लड़ाइयों, चढाइयों, आक्रमणों और संग्रामों से उत्पन्न होने वाली घृणा की लहर बैठी तो हिन्दुओं और मुसलमानों के हृदय में मेल मुहब्बत के सोते फूट पड़े, जिन्होंने कला और धर्म सबको लपेट में ले लिया और उनके भावों, विचारों और कल्पनाओं को एक दूसरे के समीप कर दिया। भक्ति को एक लोकप्रिय और उस समय की समस्याओं को देखते हुए प्रगतिशील आन्दोलन बनाने में, हिन्दू और मुसलमान दोनों भक्तों का हाथ है। जब आचार-विचार की सीमाएँ इस प्रकार निकट आ गई हों तब एक ऐसी भाषा के जन्म लेने की सम्भावना दूर नहीं रह जाती जो मिले जुले सामाजिक जीवन का चिह्न हो। ऐसे सामाजिक जीवन के विकास के लिए उसका निखर कर ऊपर आ जाना आवश्यक है।

इस बात पर लगभग सभी वैज्ञानिकों का मत एक है कि वर्तमान आर्य भाषाएँ 1,000 ई. के निकट भाषा का रूप ग्रहण करने लगीं और उसके बनने में, विशेषकर मध्य भारत और पंजाब की भाषाओं के बनने में फारसी भाषा और मेल जोल ने बड़ी सहायता की। अभी हम ऊपर देख आए हैं कि प्राकृत के दूसरे युग के अन्त में अपभ्रंश का आरम्भ हो गया और शौरसेनी प्राकृत के क्षेत्र में शौरसेनी अपभ्रंश बोली जाने लगी थी। उसका क्षेत्र पंजाब, दिल्ली और उत्तर प्रदेश के पश्चिमी भाग में सीमित किया जा सकता है। मुसलमान पहले पहल पंजाब ही में बसे इसलिए वे वहीं की भाषा काम में लाते होंगे और वहीं फारसी, अरबी और भारतवर्ष की बोलियों में पहले पहल मेलजोल हुआ होगा। अगर आज ख्वाजा मऊसद साद सलमान की हिन्दी रचनाएँ मौजूद होती तो हम उस समय के मेल-जोल का कुछ अनुमान कर सकते। परन्तु लगभग ढाई सौ वर्ष बीतने के बाद दिल्ली में अमीर खुसरो ने जन्म लिया और अन्य सूफी महापुरुषों ने भारतीय बोलियों में भक्ति और प्रेम के संदेश

सुनाए, जिनके कुछ भाग प्राचीन पुस्तकों में अब भी मिल जाते हैं। अगर हम वैज्ञानिक दृष्टि से उर्दू भाषा की जन्म कथा लिखना चाहें तो हमें शौरसेनी अपभ्रंश के क्षेत्र में उत्पन्न होने वाली आधुनिक आर्य भाषाओं का गहरा अध्ययन करना पड़ेगा। उर्दू का जन्म स्थान पंजाब और दिल्ली है। दिल्ली उत्तरी भारत के मध्य में एक ऐसे स्थान पर है जहाँ शौरसेनी प्राकृत के गर्भ से पैदा होने वाली कई भाषाएँ आकर मिलती हैं। यह भाषाएँ अलग-अलग होते हुए भी अपने आधार में एक थीं। दिल्ली के एक ओर हरियाणी और बाँगरु थीं, दूसरी ओर खड़ी बोली, पश्चिम में पंजाबी का क्षेत्र आरम्भ हो जाता है, दक्षिण-पूर्व में ब्रजभाषा का। दो तीन सौ साल तक तो इन भाषाओं में कहने योग्य कोई साहित्य पैदा नहीं हुआ परन्तु इनकी नींव दृढ़ होती रही। फिर कृष्ण भक्ति के जोर से ब्रजभाषा में कविगण अपनी कला दिखाने लगे। राजस्थानी और उसकी बोलियों में थोड़ा बहुत साहित्य पैदा होने लगा परन्तु खड़ी बोली केवल बोलचाल ही की भाषा बनी रही। इसका सबसे बड़ा कारण यह प्रतीत होता है कि ऊपरी श्रेणी के लोग जो लिखने पढ़ने से दिलचस्पी रखते थे अपना काम फारसी से चलाते थे और केन्द्र में ऐसा होना सम्भव भी था। क्लासिकल (Classical) भाषाएँ अपने गहरे प्रभाव से प्राकृत की उन्नति में सदैव बाधक होती हैं। यही हाल फारसी के होते हुए दिल्ली के आस पास की बोलियों का था। फिर भी खड़ी बोली में, जो दिल्ली के बाजारों की भाषा थी, अरबी फारसी के वे शब्द प्रवेश करते रहे जिनका प्रयोग राजनैतिक एकता के लिए आवश्यक था। इस खड़ी बोली में जो परिवर्तन हुआ उससे वह भाषा बनी जिसको साधारणतः हिन्दुस्तानी कहा जाता है। इस हिन्दुस्तानी के दो साहित्यिक रूप हैं : उर्दू, जिसमें अरबी फारसी के शब्द अधिक होते हैं और जिसे फारसी लिपि में लिखा जाता है और हिन्दी, जिसमें संस्कृत शब्दों का प्रयोग होता है और जिसे देवनागरी में लिखते हैं। यह भी न भूलना चाहिए कि खड़ी बोली का यह रूप पहले उर्दू ही की शकल में निखरा और जिसने भी हिन्दुस्तानी को साहित्य के काम में लाना चाहा उसने उर्दू ही को अपनाया। इस प्रकार यह बात सिद्ध हो जाती है कि शौरसेनी अपभ्रंश से विकास पाने वाली

अन्य भाषा में एक उर्दू भी है, यही कारण है कि उर्दू, पंजाबी और हरियाणी के व्याकरणों में कोई बड़ा अन्तर नहीं है। आगे चल कर हम देखेंगे कि कई विद्वानों ने भाषा-विज्ञान के इस सिद्धान्त को समझने में कितनी ग़लती की है।

1,000 ई. के बाद से भारतवर्ष में कई नई भाषाएँ दिखाई देने लगती हैं। 200 वर्ष बीत जाने के बाद हम यह बात बड़ी आसानी से समझ सकते हैं कि जो मुसलमान भारतवर्ष में पैदा हुए और यहाँ के लोगों में घुलमिल गए उनकी मातृभाषा फारसी नहीं हो सकती थी। पर धार्मिक और सांस्कृतिक कारणों से फारसी अरबी शब्दों का प्रयोग अनिवार्य रहा होगा और वे जिस भाषा के क्षेत्र में रहते होंगे उसी क्षेत्र की भाषा का प्रयोग करते होंगे। सच यह है कि भाषा का कोई धर्म नहीं होता, सामाजिक आवश्यकताएँ उसको प्रचलित करती हैं। यदि हम भारतवर्ष की विभिन्न भाषाओं का इतिहास पढ़ें तो हमें ज्ञात होगा कि भाषा से काम लेने के सम्बन्ध में हिन्दू मुसलमान का भेद नहीं था, मुसलमानों ने ब्रजभाषा और अवधी में उसी प्रकार रचनाएँ की हैं जिस प्रकार हिन्दुओं ने। इस सम्बन्ध में कुतवन्, रसखान, जायसी और रहीम के नाम उसी आदर से लिए जाते हैं जैसे तुलसीदास, सूर और मीरा के। इसलिए उर्दू साहित्य के इतिहास को इसी दृष्टि से पढ़ना चाहिए, नहीं तो उसका सांस्कृतिक महत्व सामने नहीं आ सकेगा।

उर्दू की उत्पत्ति के विषय में हिन्दी के कई लेखकों ने बहुत ग़लत विचार प्रकट किए हैं। उर्दू के लेखकों से भी बड़ी-बड़ी ग़लतियाँ हुई हैं, उनकी छानबीन और आलोचना इस स्थान पर नहीं हो सकती पर इतना कहना आवश्यक है कि उर्दू न तो विदेशी भाषा है, न वह सिन्ध में पैदा हुई और न दक्षिणी¹ भारत में, न पंजाबी² से निकली न ब्रजभाषा³ से वरन् जैसा कि उपर कहा गया दिल्ली के चारों ओर बोली जाने वाली कई बोलियों में

(1) यह विचार अब कोई प्रकट नहीं करता, 15-20 वर्ष पूर्व कई लेखकों ने यह बात कही थी।

(2) देखो 'पंजाब में उर्दू' लेखक महमूद शीरानी।

(3) देखो 'आब-ए-हयात' लेखक मौलाना मुहम्मद हुसैन 'आज़ाद'।

फारसी अरबी के शब्दों के मिलने और पश्चिमी हिन्दी की उस बोली में, जिसे खड़ी बोली कहा जाता है, रूप ग्रहण करने से एक नई भाषा का विकास हुआ। आरम्भ में उस पर पंजाबी का प्रभाव अधिक रहा पर धीरे-धीरे खड़ी बोली ही उर्दू के रूप में निरखती गई।¹

इससे पहले कि उर्दू साहित्य के प्रारम्भिक चिह्न की खोज की जाए, यह भी देख लेना चाहिये कि प्राचीन इतिहासों में उर्दू के क्या-क्या नाम मिलते हैं, क्योंकि इसका प्रभाव उसके साहित्य के इतिहास पर पड़ता है। आरम्भ में जिन लोगों ने फारसी में भारतवर्ष के इतिहास लिखे या हिन्दुस्तान में सैर करने के लिये आए और अपनी यात्रा का वर्णन लिखा, उन्होंने यहाँ की भाषाओं को साधारणतः 'जबाने हिन्द' 'हिन्दी' या 'हिन्दुई' लिखा है। इन लोगों की पहुँच अधिकतर पंजाब, गुजरात और उत्तरी भारत तक थी। इसलिए यह बात स्पष्ट है कि उन्होंने यहीं की भाषाओं के लिए इन शब्दों का प्रयोग किया होगा। अमीर खुसरो ने भी जहाँ भारत की भाषाओं का वर्णन किया है वहाँ 'हिन्दी और हिन्दुई के अतिरिक्त जबाने देहली' भी लिखा है। मुहम्मद तुगलक़ और फ़ीरोज़ तुगलक़ के राज्यकाल में जो इतिहास की पुस्तकें लिखी गई उनमें भी उत्तरी भारत की बोलचाल की भाषा के लिये 'हिन्दुई', लिखा गया है। 14वीं और 15वीं शताब्दियों में दक्षिण में उसको 'जबाने हिन्दुस्तान', 'हिन्दी' अथवा 'हिन्दुस्तानी' कहा जा रहा था, कभी-कभी उसी को 'दकनी' या 'दखनी' भी कहते थे। 16वीं शती में अबुल फजल ने अपनी प्रसिद्ध रचना, आइने अकबरी में हर प्रान्त की भाषा का अलग-अलग वर्णन किया है और उसमें भी 'हिन्दुई' शब्द का प्रयोग किया है। गुजरात में इसे 'हिन्दी' 'हिन्दुई' और 'गुजरी' तीनों नामों से सम्बोधित किया गया है। लगभग 18वीं सदी के अन्त तक 'उर्दू' शब्द का प्रयोग भाषा के अर्थ में नहीं मिलता, उसको जगह 'रेखता' या 'हिन्दी' दो ही शब्द कवियों की जबान पर चढ़े हुए थे। 'रेखता', संगीत का एक पारिभाषिक शब्द था, इसमें राग रागनियाँ मिलाई जाती थीं। अधिकतर यह शब्द पद्य के लिए काम में लाया जाता था, गद्य के लिए हिन्दी ही बोलते और लिखते थे। इस प्रकार

(1) इस विषय पर बहुत कुछ लिखा गया है। लेखक ने भी अपनी रचना 'हिन्दुस्तानी लिसानियात का खाका' में इस विषय पर लिखा है।

उर्दू के कई नाम मिलते हैं जिनमें से कुछ तो किसी विशेष प्रान्त या क्षेत्र में बोले जाते थे और कुछ किसी विशेष समय में। मुगलों की उन्नति के समय में महल और सेना से सम्बन्धित बाजार होते थे, वहाँ मिली-जुली बोलियाँ बोली जाती थीं, उसके लिए कभी-कभी 'जबाने उर्दू' या 'जबाने उर्दू ए मुअल्ला' का प्रयोग किया जाता था। 16वीं शताब्दी के आरम्भ से कुछ पहले उर्दू का शब्द भी भाषा के अर्थ में बोला जाने लगा। उसी समय से यूरोपियन लेखकों ने इसे हिन्दुस्तानी कहना भी आरम्भ किया।¹

इस बात की ओर संकेत किया जा चुका है कि 12वीं सदी में ख्वाजा मसऊद ने हिन्दी में कविताएँ लिखी थी पर उनका पता नहीं चलता। आगे बढ़ते हैं तो 12वीं और 13वीं शताब्दियों में कई सूफी फकीर देश के कोने-कोने में फिरते दिखाई देते हैं। यह बात बिना किसी संकोच के मानी जा सकती है कि वे साधारण लोगों के सामने फारसी और अरबी न बोलते होंगे बल्कि किसी ऐसी भाषा से काम लेते होंगे जो उनकी समझ में आ सके। हम यह भी समझते हैं कि उस समय कोई ऐसी बनी बनाई भाषा प्रचलित नहीं रही होगी जिसमें वह धर्म और भक्ति के गहरे विचार सरलता से प्रगट कर सकें इसलिए उनको मजबूरन बहुत से फारसी अरबी के शब्द बोलचाल की भाषा में मिलाने पड़ते होंगे। इस प्रकार के बहुत से वाक्य और कई कविताएँ मिलती हैं जिनमें हम उस उर्दू की खोज लगा सकते हैं जो बन रही थी। इस सम्बन्ध में सबसे पहला नाम बाबा फरीद शकरगंज का मिलता है। भाषाविज्ञान के जानकारों ने कई दोहों को उनका नहीं माना है पर प्राचीन पुस्तकों में उनके बहुत से कथन और शेर मिलते हैं। इसी प्रकार शेख हमीदुद्दीन नागोरी (मृ. 1274 ई.), शेख शफुद्दीनबूअली कलन्दर (मृ. 1323 ई.), अमीर खुसरो (मृ. 1324 ई.), शेख सिराजुद्दीन (मृ. 1356 ई.), शेख शफुद्दीन मनेरी (मृ. 1370 ई.), मखदूम अशरफ जहाँगीर (मृ. 1355 ई.) शेख अब्दुलहक़ रुदौलवी (मृ. 1433 ई.), हज़रत गेसूदराज (मृ. 1421 ई.), सैय्यद मुहम्मद जौनपुरी (मृ. 1504 ई.), शेखउद्दीन बाजन (मृ. 1506

(1) इस पुस्तक में हम भ्रम से बचने के लिए उर्दू ही शब्द का प्रयोग करेंगे।

ई.) शाह हाशिम अलवी (मृ. 1646 ई.) इत्यादि के बोल और दोहरे इस बात का पता देते हैं कि 13वीं शताब्दी से फारसी अरबी शब्दों के मेल से एक ऐसी भाषा बन रही थी जो जन साधारण की समझ में आ सकती थी और जिसको सूफी फकीर प्रचार के काम में लाते थे।

इन नामों में अमीर खुसरो और गेसूदराज साहित्य इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। अमीर खुसरो फारसी के महान लेखक थे और उनकी बहुत सी रचनाएँ मिलती हैं जो ईरान और भारत दोनों में समान रूप से आदरणीय समझी जाती हैं। उनकी पुस्तकों में भारत की बोलियों, त्योहारों, ऋतुओं, फलों, फूलों की चर्चा की गई है, यहाँ की जल-वायु, सुन्दरता और जीवन के विभिन्न रूपों को सराहा गया है। यहाँ की संगीत कला में वह केवल निपुण ही नहीं थे बल्कि अपनी ओर से भी उन्होंने उसे बहुत कुछ दिया है। वे अमीर भी थे और फकीर भी। एक ओर उनकी पहुँच राजदरबार तक थी, दूसरी ओर वह जनता से बिल्कुल निकट थे, इसीलिये फारसी के अतिरिक्त उन्होंने जन भाषा में भी बहुत सी कविताएँ, दोहे, पहेलियाँ और मुकरनियाँ लिखी हैं। इसमें संदेह नहीं कि उनमें से सभी चीजें उनकी नहीं हैं पर जो कुछ उनका जान पड़ता है उसका अध्ययन किया जाए तो ज्ञात होगा कि उन्होंने खड़ी बोली, ब्रजभाषा, मिली-जुली खड़ी और ब्रज का प्रयोग किया है। गीतों में वह अधिकतर ब्रज ही से काम लेते थे। उनके नाम से एक कविता 'खालिक्रबारी' भी मिलती है, जिसके सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है कि वह खुसरो लिखित है भी या नहीं। परन्तु ठीक यह मालूम होता है कि जो खालिक्रबारी हमको आज मिलती है उसका बहुत सा भाग बाद में दूसरों ने जोड़ दिया है और जो कुछ खुसरो ने लिखा था वह उसी में खो गया है। खालिक्रबारी में प्रचलित अरबी, फारसी शब्दों के हिन्दी पर्यायवाची शब्द कविता के रूप में लिखे गए हैं। मध्य एशिया में चंगेज़ ख़ाँ और तातारी लुटेरों के आक्रमणों से डरकर बहुत से ईरानी विद्वान और व्यापारी भारत में प्रवेश कर आए थे। उनको यहाँ के शब्द और बोलचाल के वाक्य जानने की आवश्यकता रही होगी और यदि अमीर

खुसरो ने उनके लिए एक ऐसा शब्द-कोश तैयार कर दिया तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। हम पूरे विश्वास के साथ यह नहीं कह सकते कि खालिकबारी अमीर खुसरो की रचना नहीं है। खुसरो की कविताओं के कुछ उदाहरण दिये जाते हैं :

गोरी सोवै सेज पर, और मुख पर डारे केस ।
चल खुसरो घर आपने, रैन भई सब देस ॥

जब यार देखा नैन भर दिल की गई चिंता उतर ।
ऐसा नहीं कोई अजब राखे उसे समझाए कर ॥
तू तो हमारा यार है, तुझ पर हमारा प्यार है ।
तुझ दोस्ती बिसियार¹ है एक शब² मिलो तुम आय कर ॥
खुसरो कहै बातें गजब, दिल में न लावे कुछ अजब ।
कुदरत खुदा की है अजब, जब जिव दिया गिल³ लाय कर ॥

जे-हाल-ए-मिस्कीं मकुन तगाफुल⁴ दुराय नैनाँ बनाए बतियाँ ।
कि ताब-ए-हिज्राँ नदारम ऐ जाँ न लेहू काहे लगाए छतियाँ ॥
शाबान-ए-हिज्राँ दराज्र चूँ जुल्फ ओ रोज-ए-वसलत चूँ उम्र-ए-कोताह⁵ ।
सखी पिया को जो मैं न देखूँ तो कैसे काटूँ अँधेरी रतियाँ ॥
चूँ शम-ए-सोजाँ चूँ जराँ हैराँ जे मेहर-ए-आँ-मह बगशतम आखिर⁶ ।
न नौद नैनाँ न अंग चैनाँ न आप आवे न भेजे पतियाँ ॥

अमीर खुसरो की पहेलियां भी भाषा-विज्ञान की दृष्टि से बड़ा महत्व रखती हैं। ये पहेलियाँ देखिए :

1. अधिक, 2. रात, 3. मिट्टी, 4. देन की दशा से आँखें न चुराओ, 5. हे मेरे प्राण! विरह सहने की शक्ति मुझमें नहीं है, 6. विरह की रात तेरे केश की भाँति लम्बी और मिलन का दिन आयु की तरह छोटा है, 7. इस चंद्रमा के प्रेम में जलकर अन्त में मैं दोष की भाँति जलने और कण के समान परेशान रहने लगा ।

बाला था जब सब को भाया,
बड़ा हुआ कुछ काम न आया।
खुसरो कह दिया उसका नाँव,
बुझें, नहीं तो छोड़े गाँव ॥
—(दीप)

एक थाल मोती से भरा,
सबके सर पर औँधा धरा।
चारों ओर वो थाल फिरे,
मोती उससे एक ना गिरै ॥
—(आकाश)

यह बात हम विश्वास से न कह सकेंगे कि खुसरो ने कितनी रचनाएँ की, पर इसमें तो बिल्कुल संदेह नहीं कि उन्होंने दिल्ली के आस-पास बोली जाने वाली बोली का प्रयोग अपनी कविताओं में किया। वह एक फारसी शेर में लिखते हैं :

चु मन तूतिए-हिन्दम, अर रास्त पुर्सी।

जे मन हिन्दुई पुर्स, ता नग्ज गोयम ॥

(मैं हिन्दुस्तान की तूती हूँ, अगर तुम वास्तव में मुझसे कुछ पूछना चाहते हो तो हिन्दी में पूछो, जिसमें कि मैं तुमको अनुपम बातें बता सकूँ।)

अमीर खुसरो ने जिस भाषा को हिन्दुई कहा है, सच यह है कि हम उसी से हिन्दी भाषा का इतिहास आरम्भ कर सकते हैं। ऊपर इस बात की ओर संकेत किया जा चुका है कि भाषा सामाजिक जीवन के आधार पर बनती है, उसका कोई धर्म नहीं होता। विभिन्न भाषाएँ बोलने वाले जब एक दूसरे के निकट आते हैं तो शब्दों का लेन देन आवश्यक होता है। जिस प्रकार पृथ्वीराज रासो में चन्द बरदाई ने फारसी अरबी शब्दों का प्रयोग किया था उसी प्रकार फारसी कवियों ने भी यहाँ के शब्द लिए। चन्द बरदाई ने जो शब्द लिए हैं

अगर उन पर विचार किया जाए तो प्रतीत होगा कि अधिकतर वही शब्द हैं जिनका कुछ सामाजिक महत्व था।

अमीर ख़ुसरो का युग खिलजियों और तुगलकों का युग था। फीरोज तुगलक के समय में जो ऐतिहासिक ग्रंथ फारसी में लिखे गए उनमें न जाने कितने शब्द भारतीय भाषाओं से लिए गए हैं जैसे ठग, लौंडी, मण्डल, ढोलक, मण्डी, चौधरी, राज, घड़ियाल, चूना इत्यादि। इन बातों के अतिरिक्त समयकालीन इतिहास से यह भी मालूम होता है कि पाठशालाओं में जो फारसी पुस्तकें पढ़ाई जाती थीं उनका अर्थ भारतीय भाषाओं में समझाया जाता था। इससे भी पता चलता है कि हिन्दुओं मुसलमानों के मेल जोल से भारतवर्ष की नवीन आर्य भाषाएँ प्रभावित हो रही थीं और जिस प्रकार राजस्थानी बुन्देली, ब्रज, अवधी इत्यादि का विकास हो रहा था उसी प्रकार उर्दू भी अपनी जड़ें भारतवर्ष की भूमि और समाज में फैला रही थी। उत्तरी भारत में यह भाषा बन तो रही थी पर साहित्य में इसका प्रयोग नहीं किया जा रहा था। इसके विपरीत दक्षिणी भारत में उसे साहित्य के काम में भी लाया जा रहा था। इसका विस्तृत उल्लेख दूसरे अध्याय में किया जाएगा।

यदि हम इस भाषा के इस तेजी से बढ़ने पर विचार करें तो उसका एक बड़ा और स्पष्ट कारण यह प्रतीत होता है कि दिल्ली की फौजों में हर स्थान के लोग होते थे, उनमें हिन्दू भी होते थे, और मुसलमान भी, वे एक जगह से दूसरी जगह आते जाते रहते थे, उनमें से अधिकतर, राज्य-भाषा से, जो फारसी थी, अनभिज्ञ थे और संस्कृत से जो यहाँ के अधिकतर लोगों की धर्म-भाषा थी, अपरिचित थे। इसलिए उनके आपसी व्यवहार का माध्यम बोलचाल की कोई ऐसी ही भाषा हो सकती थी जिसमें आवश्यकता के अनुसार फारसी, अरबी और संस्कृत शब्दों का प्रयोग भी होता हो किन्तु जिसका आधार केन्द्रीय इलाके की बोलचाल की भाषा हो। दिल्ली के राजधानी होने के कारण खड़ी बोली के सिवा और कोई नहीं हो सकती थी। उस पर पंजाबी, हरियानी और ब्रज का प्रभाव पड़ना भी अनिवार्य था

और जब हम आगे बढ़कर दक्षिणी उर्दू का वृत्तान्त पढ़ेंगे तो उन प्रभावों की खोज लगाने का अवसर भी मिलेगा।

उर्दू के बनने और फैलने का दूसरा बड़ा कारण यह था कि मुसलमान नरेशों ने यहाँ के प्राचीन ग्रामीण जीवन और भूमिकर के नियमों को साधारणतः वैसा ही रहने दिया। कुछ नए कर तो अवश्य बढ़ा दिए पर जन समूह की आर्थिक स्थिति में कोई बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ। इसका मतलब यह है कि शासन प्रबन्ध चलाने और कर वसूल करने के लिए उन्हें गाँव के मुखिया और स्थानीय कर्मचारियों पर निर्भर होना पड़ा। ये लोग राजदरबार की फारसी भाषा और जनता की स्थानीय भाषाओं के बीच में एक कड़ी का काम करते थे और अगर एक ओर वह कभी-कभी फ़ारसी पारिभाषिक शब्दों से काम लेते थे तो दूसरी ओर स्थानीय शब्दों का प्रयोग करने में भी संकोच नहीं करते थे। इस प्रकार वे सामग्रियाँ एकत्रित हो गईं जो एक नई भाषा में शक्ति पैदा करती हैं और उसके क्षेत्र को विस्तृत करके उसका स्वभाव इस प्रकार का बनाती हैं कि वह अपनी आवश्यकताओं को देखते हुए दूसरी भाषाओं से शब्द लेकर अपना काम चलाए।

इससे पहले कि हम उर्दू साहित्य की खोज में दक्षिण और गुजरात की ओर जाएँ, भारतवर्ष की नवीन आर्य भाषाओं पर एक दृष्टि डाल लेना लाभदायक होगा। उर्दू के क्षेत्र से निकट पंजाबी थी जिसमें बहुत दिनों तक थोड़ी सी कहावतों और दोहों को छोड़ किसी प्रकार के साहित्य का पता नहीं चलता। यही हाल हरियानी का भी था। राजस्थानी बोलियों में अवश्य राजपूत राजाओं के दरबार में काफी साहित्य इकट्ठा हो गया था, पर दूसरी भाषाओं की उन्नति के सामने वह दब सा गया। ब्रजभाषा ने 16वीं और 17वीं शताब्दी में महत्वपूर्ण उन्नति की और उसकी चलाई हुई परम्पराओं ने 20वीं शताब्दी के आरम्भ तक कवियों को प्रभावित किया। बुन्देली में बहुत सा प्रबन्ध काव्य मिलता है जिनके समय के बारे में मतभेद है। अवधी ने ब्रजभाषा ही के समान 15वीं और 16वीं शताब्दी में असाधारण प्रगति की। बंगाली और उड़िया में भी उसी समय से साहित्य मिलने लगता है। मराठी में 13वीं और 14वीं शताब्दी

में भक्तों ने काव्य का एक प्रभावशाली भंडार एकत्र कर दिया। इस प्रकार यह बात निश्चित हो जाती है कि जिन आधुनिक आर्य भाषाओं का उद्भव 11वीं शताब्दी में हुआ था उनमें साहित्य उस समय पैदा होना आरम्भ हुआ जब मुसलमान यहाँ कई सौ वर्ष तक रह चुके थे। इनमें से कई भाषाओं में उनकी रचनाएँ भी मिलती हैं जिससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि फारसी के अतिरिक्त वे स्थानीय भाषाओं में भी लिखते थे और यद्यपि वे धार्मिक और सांस्कृतिक कारणों से फारसी और अरबी जानने की चेष्टा भी करते थे पर यह बात सब के लिए सम्भव न थी।

इस सारे वाद-विवाद से यह परिणाम निकलता है कि जो नवीन भाषा उर्दू के रूप में निर्मित हो रही थी वह उस समय तक लोगों को अपनी ओर न खींच सकी जब तक वह फारसी के गहरे प्रभाव के नीचे दबी रही और उसकी अपनी पहचान उभर कर सामने नहीं आई। इसके विपरीत दक्षिण की बात अलग थी। जहाँ इसके विकास के लिए वातावरण अनुकूल था। जिसके कारण उत्तरी भारत के मुकाबले में उसके फलने-फूलने की प्रक्रिया बहुत पहले शुरू हुई।

isd इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस, 62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067

टेलीफोन : 091-26177904, टेलीफैक्स : 091-26177904

ई-मेल : notowar.isd@gmail.com / वेबसाइट : www.isd.net.in

मुद्रण : डिजाइन एण्ड डाइमेंशंस, एल-5 ए, शेख सराय, फेज-II, नई दिल्ली-110017